किंतु जो जीवका बोध देता । हलचल प्रकट करता ।
तभी वह शब्द अर्थ देता । लोकमें जीव ॥ ४६ ॥

जन्मना तथा मरना । इसको सच मानना ।
मेरा संसार कहना । यह जीवलोक ॥ ४७ ॥

ऐसे जीवलोकमें अर्जुन । करता मेरा अवलोकन ।
जैसे चन्द्रमा नीरमें जान । जो उदकातीत ॥ ४८ ॥

जैसे कभी कोई स्फटिक । केशर पर पड देख ।
प्रकट होता लाल देख । किंतु न होता लाल ॥ ४९ ॥

वैसे अनादिपन नहीं टूटता । अकर्तापन मेरा नहीं भंगता ।
किंतु कर्ता भोक्ता ऐसा भासता । यह भ्रम है जान ॥ ३५० ॥

या आत्मा है जो निर्विकार । प्रकृतिसे हो एकाकार ।
प्रकृतिके धर्मानुसार । देखता अपनेमें ॥ ५१ ॥

मन सह सभी इंद्रिय । करते प्रकृतिका कार्य ।
उन्हें अपना धनंजय । होना प्रवृत्त ॥ ५२ ॥

स्वप्नमें जैसे कोई परिव्राजक । आप अपना कुटुंब होके देख ।
भागदौड़ करता मोह मूलक । जैसे वैसे भी ॥ ५३ ॥

वैसे है अपनी ही विस्मृति । आत्मा आप ही होता प्रकृति ।
उसीको मान सुभद्रापति । भजता उसीको ॥ ५४ ॥

मन रथ पर चढ़कर । श्रवण द्वारसे हो बाहर ।
शब्द-काननमें भयंकर । घुसता है वह ॥ ५५ ॥

वैसे ही प्रकृतिकी रास । त्वचाके हाथमें दे खास ।
स्पर्श-द्वारसे है प्रवास । करता वनमें ॥ ५६ ॥

अजी ! कभी किसी अवसर । नेत्र-द्वारसे पड़ बाहर ।
चढ़ता है रूपका डोंगर । स्वैर-भावसे ॥ ५७ ॥

वैसे ही रसनाका पथ । चलकरके वह पार्थ ।
रस भरने उदरार्थ । लगता वह ॥ ५८ ॥

अथवा पथ कर घ्राण । देहेश करता गमन ।
फिर जो गंधके दारुण । अरण्य लांघता ॥ ५९ ॥

ऐसे वह इंद्रिय नायक । करके मनको सहायक ।
शोधते जाता है शब्दादिक । विषय सारे ॥ ३६० ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

जाते समय जीव इंद्रियोंके साथ जाता है—

किंतु ऐसे कर्ता भोक्ता । जिवन-रूप दीखता ।
जैसे तनमें करता । यह प्रवेश ॥ ६१ ॥

अजी! कोई विलासी तथा धनिक । जाना जाता है उसी समय देख ।
बसता है जब वह हो स्थाइक । राजधानीमें ॥ ६२ ॥

वैसे बढ़ता कर्तृत्व अहंकार । विषयेंद्रिय-तांडव धनुर्धर ।
जाना जाता है तभी पाता शरीर । जब यह जीव ॥ ६३ ॥

अथवा छोड़ता है शरीर । तब इंद्रियां निकाल कर ।
अपने ही साथ धनुर्धर । ले जाता है ॥ ६४ ॥

जैसे अपमानित अथिति । ले जाता है सुकृत-संपत्ति ।
या ले जाता है गुड्डेकी गति । सूत्र-तंतू ॥ ६५ ॥

अथवा प्रकाश अस्तमान । ले जाता है सबका दर्शन ।
अथवा है सुगंध पवन । ले जाता जैसे ॥ ६६ ॥

वैसे मन सह इंद्रियां । देह-राज है धनंजय ।
शरीर तजते समय । ले जाता है ॥ ६७ ॥

जैसे पुष्पादिसे वायु ले जाता गंध खींचके ।
वैसे लेकर ये ईश छोडता धरता तन ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यहां अथवा स्वर्गमें फिर । लेता जिस देहका आधार ।
करता है वैसा ही विस्तार । मन-इंद्रियोंका ॥ ६८ ॥

जैसे बुझते ही ज्योति । ले जाती अपनी दीप्ति ।
फिर जब है जलती । वैसा ही प्रकाश ॥ ६९ ॥

किंतु ऐसे है जो परिवर्तन । करते अविवेकीके नयन ।
जानते इतना तो अर्जुन । समान्य बात ॥ ३७० ॥

आत्मा है जो शरीरमें आया । उसीने विषय भोग किया ।
या वही शरीर छोड गया । इतना जानते ॥ ७१ ॥

वैसे आना तथा जाना । करना है या भोगना ।
देहका कार्य है माना । उसने आत्माका ॥ ७२ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्तिज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

ागी आत्म-धर्म आत्मामें तथा देह-धर्म देहमें देखता है—

किंतु छोटासा देह उत्पन्न । तथा देख उसमें चेतन ।
या उसमें देख आंदोलन । कहते वह आया ॥ ७३ ॥

श्रोत्र जिह्वा त्वचा चक्षु घ्राण औ' साथ ही मन ।
आधार इनका लेके सारे विषय भोगता ॥ ९ ॥
तजता धरता देह भोगता गुण-युक्त जो ।
न देखते इसे मूढ देखते ज्ञान चक्षु ही ॥ १० ॥
यत्नसे देखते योगी इसको हृदयमें बसे ।
चित्त-हीन अशुद्धात्मा यत्नसे भी न देखते ॥ ११ ॥

वैसे ही इंद्रियां उसके साथ । करती अपना व्यापार पार्थ ।
उसको कहते लोग यथार्थ । भोगना ऐसे ॥ ७४ ॥

भोग-क्षीणसे पीछे स्वाभाविक । शरीर गिरता है यह देख ।
वह गयारे गया ऐसे चीख - । कहते हैं बसे ॥ ७५ ॥

जैसे देखके वृक्ष हिलता । कहते हैं पवन बहता ।
किंतु जहां वृक्ष नहीं होता । नहीं क्या पवन ॥ ७६ ॥

या रखकर सम्मुख दर्पण । उसमें कर अपना दर्शन ।
भासता आप हुवा है उत्पन्न । उससे पूर्व नहीं क्या ॥ ७७ ॥

या परे हठाके दर्पण । अपना लोप हुवा मान ।
आप नहीं ऐसे अर्जुन । ऐसा मानना क्या ॥ ७८ ॥

शब्द है जैसे आकाशका । किंतु माना जाता मेघका ।
या चंद्रके वेग अभ्रका । करता आरोप ॥ ७९ ॥

वैसे शरीरका आवगमन । निर्विकार आत्मापे आरोपण ।
करते हैं वे भ्रमसे अर्जुन । निश्चय-पूर्वक ॥ ३८० ॥

आत्मामें यहां आत्म-धर्म । तथा देहमें देह-धर्म ।
जानते जो इसका मर्म । वे हैं दूसरे ही ॥ ८१ ॥

ज्ञानसे हैं जिसके नयन । देखते हैं आत्म भेदके तन ।
मेघ-भेदमें सूर्य-कीरण । ग्रीष्ममें जैसे ॥ ८२ ॥

वैसे ही कर विवेक विस्तार । ज्ञानियोंकी बुद्धि होती है स्थिर ।
देखते आत्माको वैसे ही धीर । इस भांतिसे ॥ ८३ ॥

जैसे तारागणसे भरा गगन । जलमें पडा है दीखता अर्जुन ।
किंतु नहीं पडा टूटके गगन । यह जानते वैसे ॥ ८४ ॥

गगनके स्थानपे है गगन । यह केवल है आभास जान ।
वैसे हैं आत्म-शरीर भिन्न । मानते हैं वे ॥ ८५ ॥

कलकल बहते पानीमें चंचल । दिखती है चांदनीकी जो हलचल ।
चांदनी होती चंद्रके साथ निश्चल । जानके देखते है ॥ ८६ ॥

या ड़बरा ही भरता सूखता । सूर्य जैसेका वैसा है रहता ।
वैसे ही शरीर आता औ' जाता । देखते हैं ऐसे ॥ ८७ ॥

घट मट बनाये । वैसे ही तोड़ दिये ।
आकाश रह गये । सदा अखंड ॥ ८८ ॥

वैसे अखंड आत्म-सत्ता । तन है जो आता जाता ।
अज्ञान-दृष्टिसे कल्पित । जानते हैं ज्ञानी ॥ ८९ ॥

चैतन्य न बढता न घटता । वह कर्म न करता कराता ।
ऐसे आत्म ज्ञानसे है जानता । शुद्ध-रूपसे ॥ ३९० ॥

तथा स्वाधीन होगा संपूर्ण ज्ञान । प्रज्ञा परमाणुका अंतदर्शन ।
सकल शास्त्रोंका रहस्य अर्जुन । किसी समय ॥ ९१ ॥

किंतु है ऐसी इसकी उत्पत्ति । मनमें न रही यदि विरक्ति ।
होती कभी सर्वात्मकी प्राप्ति । विद्वत्तासे ॥ ९२ ॥

मुखमें भरा है सदैव ज्ञान । अंतःकरणमें विषयोंका स्थान ।
इससे न होगी प्राप्ति अर्जुन । मेरी कभी ॥ ९३ ॥

करनेसे ग्रंथ पठन । टूटेगा भव-बंधन ।
करनेसे ग्रंथ स्पर्शन । होगा क्या पाठ ? ॥ ९४ ॥

आंखमें पट्टी बांधकर । नाकसे मोति सूंघकर ।
समझेगा क्या धनुर्धर । उसका मूल्य ॥ ९५ ॥

वैसे चित्तमें अंहताका स्थान । जिव्हा पर शास्त्र संपूर्ण ।
इससे नहीं होगा मेरा ज्ञान । करोडों जन्मोंमें ॥ ९६ ॥

मैं अकेला सबमें भरा हुवा हूं—

एक हूं मैं सबमें व्याप्त । भूतमात्रमें हूं समस्त ।
कहता हूं मैं यही बात । स्पष्ट रूपसे ॥ ९७ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

वैसे सूर्य सह जो संपूर्ण । विश्वकी रचना है अर्जुन ।
प्रकाश वह मेरा ही जान । आद्यंत है जो ॥ ९८ ॥

जल सोखकर लेता सविता । जलांश जो बादमें है रहता ।
चंद्रमें रहती है जो पांडुसुता । जोस्ना वह मेरी ॥ ९९ ॥

तथा दहन पचन सिध्दि । करता रहता निरवधि ।
हुतामें वह तेजोवृद्धि । जान मेरी ही ॥ ४०० ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

प्रवेश किया मैंने भूतलमें । तभी यह महासिंधु जलमें ।
नहीं पिघला है युग-युगमें । मृत्तिका पिंड ॥ १ ॥

तथा भूत ही स-चराचर । धरा है धरतीने अपार ।
पृथ्वी-तलमें प्रवेश कर । उसको धरा मैंने ॥ २ ॥

गगनमें मैं पांडुसुत । चंद्रके रूपसे अमृत ।
भरा हुवा मैं स्वचलित । बना सरोवर ॥ ३ ॥

वहांसे निकलते रश्मिकर । उनको धरकर मैं अपार ।
सभी वनस्पतियोंका आगर । भरता रहता मैं ॥ ४ ॥

इससे सस्यादिक सकल । करते धान्यादिका सुकाल ।
तथा अन्नादिसे प्रतिपाल । करता सबका ॥ ५ ॥

सकल जन जीवनका जीवन 'वैश्वानर' मैं हूं—

ऐसे उत्पन्न किया हुवा अन्न । जिस भांति करके मैं दीपन ।
जिससे जीवका हो समाधान । करता हूं ऐसे ॥ ६ ॥

सूर्यमें जलता तेज विश्वको है प्रकाशता ।
चंद्रमें अग्निमें वैसे मेरा ही तेज जान तू ॥ १२ ॥
धृतिके बलसे भूत धरता मैं धरा बना ।
पोसता वनस्पतीको रससे भर सोम मैं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

प्राणिमात्रके नाभि-कंदपर । अंगीठी बनके पांडुकुमार ।
जलता हूं मैं दीप्ति बनकर । जठरमें सदैव ॥ ७ ॥

धौंकनी बनाकर प्राणापान । फूंकता रहता हूं रात दित ।
पचा डालता मैं कितना अन्न । इसी उदरमें ॥ ८ ॥

शुष्क अथवा स्निग्ध । सुपक्व या विदग्ध ।
किंतु मैं चतुर्विध । पचाता अन्न ॥ ९ ॥

ऐसे मैं ही हूं सकल जन । जीवनका हूं सार-जीवन ।
औ' जीवनका मुख्य-साधन । वैश्वानर मैं हूं ॥ ४१० ॥

कहूं क्या इससे अधिक पार्था । मेरी सर्व-व्यापककी कथा ।
विश्वमें दूसरा नहीं सर्वथा । मेरे बिन कुछ भी ॥ ११ ॥

संसारमें कुछ सुखी और कुछ दुखी क्यों ?—

किंतु इसका कारण । सदा सुखी हैं कुछ जन ।
तथा कुछ दुःख मगन । दीखते यहां ॥ १२ ॥

अजी ! संपूर्ण नगरमें जैसे । दीप जलते एक ही दीपसे ।
किंतु कुछ जलते उसमेंसे । कुछ बुझते क्यों ? ॥ १३ ॥

यहां करता ऐसा संशय । तेरा मन यदि धनंजय ।
अबका है उत्तम समय । संदेह निवृत्तिका ॥ १४ ॥

मैं भर रहा यहां संपूर्ण । इसमें अन्यथा नहीं जान ।
जिसका जैसा अंतःकरण । दीखता वैसे ॥ १५ ॥

जैसे आकाशध्वनि है जो एक । गूंजता नाद बन अनेक ।
भिन्न भिन्न वाद्योंमेंसे तू देख । धनंजय ॥ १६ ॥

वैश्वानर बना मैं ही जीवोंके तन में बसा ।
पचाता अन्न चारो ही प्राण अपान फूंकके ॥ १४ ॥

या एक सूर्य जैसे अर्जुन । लोक चेष्टासे होकर भिन्न ।
उपयोग होता अनुदिन । देखता है तू ॥ १७ ॥

नाना बीज धर्मानुरूप । वृक्ष रस बनता आप ।
वैसे बदलता स्वरूप । जीवमें मेरा ॥ १८ ॥

जैसे नीलमणिका हार । सर्पत्व लेता भयंकर ।
सुखद होता निरंतर । जब दूसरेको ॥ १९ ॥

अथवा जैसे स्वातीका उदक । सीपमें मोति औ, व्यालमें विष ।
वैसे सु ज्ञानियोंको मैं हू सुख । दुख अज्ञानियोंको ॥ ४२० ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

सबके हृदयमें जो आत्म-स्फुरण है वह मैं हूं—

वैसे ही होती हृदय मध्यमें । अमुक हू ऐसी उर्मी सबमें ।
वह स्फुरण जो दिन रातमें । होता मैं हूँ ॥ २१ ॥

किंतु संत संगमें होता । या योग-ज्ञानमें बैठता ।

गुरु-चरण उपासता । वैराग्यसे ॥ २२ ॥

ऐसे ही सत्कर्ममें नित । अज्ञान नष्ट होता पार्थ ।
उसका होता अहं स्थित । आत्म-रूपमें ॥ २३ ॥

वे अपने आपको देख । पाते मुझ आत्मामें सुख ।
मेरे बिन भिन्न न देख । कभी कहीं ॥ २४ ॥

सर्वांतरोंमें करता निवास
देता स्मृति ज्ञान विवेक मैं ही ।
मैं ही अकेला चिर वेद-वेद्य
वेदज्ञ मैं वेद रहस्य कर्ता ॥ १५ ॥

अजी ! होता है जब सूर्योदय । देखता जैसे सूर्यको ही सूर्य ।
वैसे मेरे ज्ञानका धनंजय । कारण मैं ही ॥ २५ ॥

बके अज्ञानका कारण भी मैं—

या शरीर सेवामें हो तत्पर । संसार गौरवको सुनकर ।
अहंकार देहमें डूबकर । रहा है जिनका ॥ २६ ॥

वे हैं स्वर्ग संसारार्थ । दौडते कर्ममें पार्थ ।
तथा होते हैं दुःखार्थ । मेरे ही कारण ॥ २७ ॥

यह होता भी है अर्जुन । मेरे कारण है अज्ञान ।
जागृत ही देखता स्वप्न । या निद्रा लेता ॥ २८ ॥

जिन बादलोंने सूर्यको छिपाया । उसी सूर्यसे बादल देखा गया ।
मेरे अज्ञानसे वैसे देख लिया । विषय जीवोंने ॥ २९ ॥

जैसे निद्रा या जागृतिका । प्रबोध कारण मूलका ।
वैसे ज्ञानाज्ञान जीवोंका । कारण मैं हूं ॥ ४३० ॥

जैसे सर्पत्वका कारण डोर । वह डोर ही मूल धनुर्धर ।
वैसे ज्ञानाज्ञानका व्यवहार । मुझसे होता ॥ ३१ ॥

तभी मैं जैसे हूं वैसे । मुझको न जाननेसे ।
वेदके न जाननेसे । उसकी हुई शाखाएं ॥ ३२ ॥

तो भी वेदोंके शाखा-भेदसे । मैं ही एक जाना जाता वैसे ।
सभी ओरकी नदियां जैसे । मिलती सिंधुमें ॥ ३३ ॥

वैसे महा-सिद्धांतके पास पार्थ । श्रुतियां खो जाती हैं शब्द सहित ।
अथवा आकाशमें गंध सहित । वायु-लहरियां ॥ ३४ ॥

वैसे हैं समस्त श्रुतिजात । होते लजाकर जैसे शांत ।
उसका मैं करता यथार्थ । अर्थ प्रकट ॥ ३५ ॥

फिर श्रुति सह जो अशेष । विश्व खो जाता यहां निःशेष ।
वह निज ज्ञान भी विशेष । जानता मैं ही ॥ ३६ ॥

जैसे निद्रितको कर जागृत । तब न जानता स्वप्नका द्वैत ।
किंतु करना एकत्व प्रतीत । अपना ही जो ॥ ३७ ॥

वैसे अपना अद्वयपन । जानता हूं मैं द्वैतके बिन ।
उसका भी हूं बोध कारण । जाननेका मैं ही ॥ ३८ ॥

आगसे मिला कपूर । न राख न वैश्वानर ।
न रखता धनुर्धर । उसी भांति ॥ ३९ ॥

वैसे समूल अविद्या खाता । वह ज्ञान भी जो डूब जाता ।
जब नहीं ऐसा न रहता । तब है भी कैसे ॥ ४४०॥

मार्ग सह विश्व ले गया जो अर्जुन । उस चोरको पकडेगा कैसे कौन ।
ऐसी व्यवस्था है जो विशुध्द तू जान । वह मैं हूँ ॥ ४१ ॥

ऐसी जो जड़ाजड़ व्याप्ति । कहता है कैवल्यपति ।
अपने रूपकी पूर्ति । निरुपाधिक मैं ॥ ४२ ॥

वह बोध है ऐसा संपूर्ण । बिंबित हुवा पार्थमें जान ।
नभके पूर्ण-चंद्रसमान । क्षीरार्णवमें ॥ ४३ ॥

या जैसे दर्पणमें बिंबत होता । उसके सम्मुख जो चित्र रहता ।
वैसे कृष्ण औ' पार्थ अनुभावता । एक ही बोध ॥ ४४ ॥

फिर भी है वह वस्तु-स्वभाव । बढ़ता जाता प्रिय अनुभव ।
तभी वह अनुभवका राव । कहता अर्जुन ॥ ४५ ॥

कहनेमें अब व्यापकत्व । कहगया निरुपाधिकत्व ।
प्रसंगवश स्वस्वरूपत्व । कहनेमें देव ॥ ४६ ॥

कहना वह एक बार । पूर्णरूपसे कृपाकर ।
श्रीकृष्ण यह सुनकर । कहता भला ॥ ४७ ॥

हमको भी पांडुसुता । इसको कहना भाता ।
किंतु ऐसा प्रश्न कर्ता । मिलता नहीं ॥ ४८ ॥

आज मनोरथका फल । मिला है तू यहां केवल ।
खुलकर यह सकल । पूछनेको ॥ ४९ ॥

त-गुरु-शिष्यसंवाद-से अद्वैतके पारका अनुभव—

अद्वैतके पारका जो भोगना । वह भोग-सुख अनुभवना ।
पूछ कर देता है तू अर्जुन । मुझको मेरा ॥ ४५० ॥

सम्मुख होता है जब दर्पण । आप करता अपना दर्शन ।
वैसे शुध्द संवादमें अर्जुन । शिरोमणि है तू ॥ ५१ ॥

तेरा अजानसे पूछना । हमको कहते बैठना ।
ऐसा नहीं इसे जानना । सखा मेरे ॥ ५२ ॥

ऐसा कह दिया आलिंगन । कृपा-दृष्टिसे अवलोकन ।
फिर किया हरिने कथन । अर्जुनसे क्या ॥ ५३ ॥

जैसे दो होंठोंसे एक बोलना । दो ही चरणसे एक चलना ।
वैसे दोनोंका पूछना कहना । तेरा मेरा ॥ ५४ ॥

ऐसे हम तुम यहां । देखना एक ही जहां ।
पूछना कहना यहां । दोनों एक ॥ ५५ ॥

लुब्ध हुये देव मोहसे । अर्जुनके अलिंगनसे ।
फिर कहते संकोचसे । यह नहीं उचित ॥ ५६ ॥

इक्षुदंड रसकी भेली । नासती लवणसे भली ।
संवाद-सुख क्रीडा भली । नासेगी जैसे ॥ ५७ ॥

अजी पहलेसे हममें नहीं । नर-नारयणमें द्वैत कहीं ।
लीन हो अब मेरा मुझमें ही । यह आयेगा ॥ ५८ ॥

इस सोचसे अकस्मात । श्रीकृष्ण कहता है पार्थ ।
तूने प्रश्न किया उचित । वह कैसा ॥ ५९ ॥

अर्जुन या कृष्णमें लीन । लौट कर आया वह सुन ।
अपना ही किया हुवा प्रश्न । अब सम्मुख ॥ ४६० ॥

यहां गद्‌गद हो बोलता । अर्जुन जी ! जी ! कहता ।
निरुपाधिक जो होता । अपना कह ॥ ६१ ॥

शार्ंगधर सुन बोला तब । वही कहने लिये अब ।
कहने लगा जो दोनों भाग । अपनी उपाधिके ॥ ६२ ॥

भगवानकी उपाधिकता—

पूछा था निरुपाधिक । कहता है उपाधिक ।
एसा प्रश्न स्वाभाविक । उठेगा यहां ॥ ६३ ॥

अजी ! छासको अलग करना । कहा जाता मक्खन निकालना ।
हीन कस धातु सब जलना । स्वर्ण-शुद्धि ॥ ६४ ॥

या काईको दूर करना । विशुद्ध जलको पा लेना ।
तथा बादलोंका हटना । आकाश शुद्ध ॥ ६५ ॥

ऊपरसे ढका चोकर । फटकके किया तो दूर ।
शुध्द अनाजका स्वीकार । होता आप ॥ ६६ ॥

वैसे उपाधि उपाहित । विचारनेसे व्यवस्थित ।
किसीसे न पूछते ज्ञात । होता निरुपाधिक ॥ ६७ ॥

जिस भांति मौन रहकर । बाला प्यारसे सकुचाकर ।
पति नाम शब्द मारकर । कहती वैसे ॥ ६८ ॥

जो है न कहने जैसा । कहना पडा है ऐसा ।
तभी उपाधिसे वैसा । कहता श्रीहरी ॥ ६९ ॥

प्रतिपदाकी चंद्ररेखा । दिखाना हो तो वृक्ष-शाखा ।
दिखाते वैसे उपाधिका । करते वर्णन ॥ ४७० ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

पुरुष लोकमें है दो क्षर तथैव अक्षर ।
क्षर हैं सब ये भूत अक्षर स्थिर है वह ॥ १६ ॥

क्षराक्षर पुरुष विचार—

श्री कृष्णने फिर बात की । इस संसार नगरकी ।
वसति है दो पुरुषोंकी । केवल मात्र ॥ ७१ ॥

गगनमें जैसे संपूर्ण । बसते हैं रात औ, दिन ।
संसार नगरमें मान । वैसे ये दो हैं ॥ ७२ ॥

तीसरा भी एक पुरूष रहता । वह इनका नाम नहीं सहता
गांव सह वह इन्हे निगलता । होता जब प्रकट ॥ ७३ ॥

रहने दो तीसरेकी वार्ता । सुनो अब इन दोकी कथा ।
इस संसार ग्राममें पार्था । बसने आये जो ॥ ७४ ॥

एक है अंधा पगला लूला । दूजा सर्वांग पूर्ण है भला ।
ग्राम-गुणोंसे संग केवल । हुवा उनका ॥ ७५ ॥

उनमें है एक क्षर । दूसरा जो है अक्षर ।
दोनोंसे यह संसार । भरा है ठसाठस ॥ ७६ ॥

सुन अब क्षर है कौन । अक्षरका क्या लक्षण ।
अभिप्राय यह संपूर्ण । कहूंगा तुझको ॥ ७७ ॥

जहां है महदकार । वहांसे है धनुर्धर ।
यहां है जों तृणांकुर । वहां तक ॥ ७८ ॥

जो है बड़ा या थोर । चलता या है स्थिर ।
या जो होता गोचर । मन-बुद्धिसे ॥ ७९ ॥

जो कुछ पंच-भूतसे बनता । नाम-रूपमें आकर फंसता ।
तथा टकसालसे निकलता । गुणत्रयोंकी ॥ ४८० ॥

शिक्का जो है भूताकृतिका । बनाया जाता जो स्वर्णका ।
बनता है वह कालका । भूत-बीज ॥ ८१ ॥

जानना ही जो विपरीत । तथा जो कुछ होता ज्ञान ।
वह प्रति-क्षण समाप्त । होता बनके ॥ ८२ ॥

निकाल कर भ्रांतिका नग । खड़ा किया है सृष्टिका अंग ।
पहचाना जाता है जो जग । इस नामसे ॥ ८३ ॥

जो अष्टधा भिन्न ऐसे । दिखाया सातमें जैसे ।
क्षेत्र-द्वारा छत्तीससे । दिखाया है जो ॥ ८४ ॥

पिछला कहना कितना । इसीमें कहा है अर्जुन ।
वृक्षाकार रूप कारण । प्रस्तुत यहां ॥ ८५ ॥

यह सब है जो साकार । देह-कल्पनासे नगर ।
बन गया तदनुसार । चैतन्य आप ॥ ८६ ॥

जैसे कूपमें बन आप ही बिंब । सिंह करता प्रतिबिंबसे क्षोभ ।
फिर उसी क्षेत्रसे है समारंभ । करता कूदनेका ॥ ८७ ॥

या सलिलमें पूर्वका जो होता । व्योम पर व्योम प्रतिबिंबता ।
वैसे अद्वैत होकर भोगता । द्वैत आप ॥ ८८ ॥

अर्जुन ! जो इस प्रकार । पुर कल्पनासे साकार ।
करता आत्मा निद्रा घोर । विस्मृतिकी वहां ॥ ८९ ॥

स्वप्नमें शय्या देख जैसे । स्वप्नमें सो जाते हैं वैसे ।
नगरमें शयन ऐसे । होता आत्माका ॥ ४९० ॥

फिर वह निद्रा मदमें । सुखी या दुखी माननेमें ।
अहंकारकी समाधिमें । बकता जाता ॥ ९१ ॥

यह जनक या यह माता । यह पुत्र वित्त तथा कांता ।
मैं काला गोरा हीन या शास्ता । मेरा है यह सब ॥ ९२ ॥

ऐसे स्वप्नाश्व पर हो सवार । दौड़ता जो स्वर्ग और संसार ।
उस जीवका नाम धनुर्धर । है क्षर पुरुष ॥ ९३ ॥

अब तू सुन यह पार्था । क्षेत्रज्ञ है जो कहलाता ।
या जिसको जीव कहता । सारा विश्व ॥ ९४ ॥

अपना रूप जो भूल जाता । सर्व-भूतत्व अनुसरता ।
वह चैतन्य है कहलाता । क्षर पुरुष ॥ ९५ ॥

वहां है अत्म-रूपसे पूर्णता । इसीलिये है पुरुषता ।
फिर वह देह-पुरमें सोता । पुरुष-नाम ॥ ९६ ॥

तथा क्षरत्वका जो व्यर्थ । उसपे आक्षेप है पार्थ ।
वह है उपाधि-ग्रथित । इसीलिये ॥ ९७ ॥

बहते पानीके साथ जैसे । चंद्रबिंब उछलता वैसे ।
उपाधिके विकारमें ऐसे । दीखता वह ॥ ९८ ॥

या बहता पानी जब सूखता । बिंबित चंद्रमा भी है लोपता ।
वैसे उपाधि-नाशमें लोपता । उपाधि-धारी ॥ ९९ ॥

ऐसे उपाधिके ही कारण । क्षणिकत्व जुडता है जान ।
उपाधि नाशके ही कारण । क्षर यह नाम ॥ ५०० ॥

ऐसे जीव चैतन्य संपूर्ण । है यह क्षर-पुरुष जान ।
अब मैं अक्षरका वर्णन । करूंगा स्पष्ट ॥ १ ॥

अक्षर पुरुषका वर्णन—

अक्षर यह दूसरा । पुरुष है धनुर्धर ।
मध्यस्थ है गिरिवर । मेरू सामान ॥ २ ॥

यह पृथ्वी पाताल स्वर्गमें । न होता विभाजित तीनोंमें ।
वैसे यह ज्ञान अज्ञानमें । पड़ता नहीं ॥ ३ ॥

यहां न यथार्थ ज्ञानमें एकत्व । या विपरीत ज्ञानमें अनेकत्व ।
ऐसे केवल अज्ञान ही जो तत्व । वही यह रूप ॥ ४ ॥

धूलत्व संपूर्ण मिटता । किंतु घटादि नहीं होता ।
जैसा मृत्तिका पिंड होता । ऐसा मध्यस्थ जो ॥ ५ ॥

सूख जानेपे सागर । नहीं तरंग नहीं नीर ।
ऐसी यह अनाकार - । दशा जान ॥ ६ ॥

जागृति नहीं जहां अर्जुन । तथा प्रारंभ न होता स्वप्न ।
इस भांति तम-घन जान । इसका रूप ॥ ७ ॥

विश्वका होता है संपूर्ण अस्त । न होता आत्म-बोध प्रकाशित ।
ऐसी अज्ञान दशा मात्र पार्थ । अक्षर नामकी ॥ ८ ॥

* "अजा" कहनेसे जन्म नहीं । अजन्माको मृत्यु कैसी कहीं ।
इसीलिये अक्षर सही । अज्ञान घन ॥ ९ ॥

जैसे सर्व कला रहित । चन्द्रमा जो मूल रूपित ।
दीखे अमावासके रात । वैसे ही यह ॥ ५१० ॥

होते ही सर्वोपाधि विनाश । लीन होती जहां जीव-दशा ।
फल पाकरके वृक्ष-दशा । बीजमें जैसे ॥ ११ ॥

वैसे उपाधि उपाहित । ये दोनों होते हैं विलुप्त ।
उसको कहते अव्यक्त । पांडुकुमार ॥ १२ ॥

जिसको है बीज भाव । वेदांतमें दिया नांव ।
उस पुरुषका ठाव । अक्षरका ॥ १३ ॥

जहांसे है अन्यथा ज्ञान । फैलकर जागृति स्वप्न ।
नानात्व-बुद्धिमें अर्जुन । घुसे हैं सब ॥ १४ ॥

जहांसे उठता जीवत्व । तथा उठाकर जो शिवत्व ।
इन दोनोंका जहां लयत्व । वह अक्षर पुरुष ॥ १५ ॥

तथा अक्षर पुरुष जनमें । खेलता है जागृति-स्वप्नमें ।
या दोनो अवस्थायें उनमें- । से प्रसवती हैं ॥ १६ ॥

जो है आज्ञनघन सुषुप्ति । ऐसी है उसकी प्रख्याति ।
इसे कहते ब्रह्म-प्राप्ति । यदि न्यून न होता ॥ १७ ॥

वास्तवमें यदि यह पाथा । स्वप्न-जागृतिमें नहीं आता ।
ब्रह्म-भाव ही कहा जाता । इसको ही ॥ १८ ॥

किंतु प्रकृति पुरुष ये दोनों । मेघ बन आये नभमें मानो ।
क्षेत्र-क्षत्रज्ञ ये स्वप्नमें दोनों । दीखते निद्रामें ॥ १९ ॥

---

* अजामेकम् श्रुतिवचन—

रहने दो यह अधो शाख । संसार रूप जो वह रूख ।
उसका यह मूल-पुरुष । जो है अक्षर ॥ ५२० ॥

यह पुरुष क्यों कहलाता । अपने पूर्णत्वमें होता ।
तथा मायापुरीमें है सोता । इससे ही ॥ २१ ॥

और है विश्वका आना जाना । विपरीत ज्ञानका रूप माना ।
इसने है जिसको नहीं जाना । यह है सुषुप्ति ॥ २२ ॥

तभी यह स्वभावता । क्षरना नहीं जानता ।
तथा नाश नहीं होता । ज्ञानके बिन ॥ २३ ॥

इसीलिये यह अक्षर । वेदोंमें पांडुकुमार ।
वेदांत प्रसिध्द डोंगर । हुवा सिध्दांत ॥ २४ ॥

ऐसे जीव कार्य कारण । जिसे माया संग लक्षण ।
अक्षर पुरुष है जान । चैतन्य जो ॥ २५ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

तीसरे पुरुषोत्तमका विवेचन—

अब जो अन्यथा ज्ञानकी । अवस्थायें हैं दो-जनकी ।
खो जाती है वह निद्राकी । अज्ञान-स्थितिमें ॥ २६ ॥

वह अज्ञान जब ज्ञानमें डूबता । तथा वह ज्ञान भी कीर्तिमुख होता ।
जैसे काष्ठ जलाकर स्वयं जलता । वन्ही आप ॥ २७ ॥

ऐसे वह अज्ञान ले गया ज्ञान । पर-तत्व दे गया आप अर्जुन ।
जाननेके बिना रहा ऐसे ज्ञान । केवल मात्र ॥ २८ ॥

कहाता परमात्मा जो तीजा पुरुष उत्तम ।
विश्व-पोषक विश्वात्मा है विश्वेश्वर अव्यय ॥ १७ ॥

वही है जो उत्तम पुरुष । तीसरा क्यों इसका निष्कर्ष ।
उन दोनोंसे भिन्न है देख । यह अंतिम ॥ २९ ॥

सुषुप्ति और स्वप्न । उससे भिन्न अर्जुन ।
जागृति जैसे जान । बोधकी जो ॥ ५३० ॥

किरण अथवा होता मृगजल । उससे भिन्न जैसे सूर्य-मंडल ।
वैसे ही भिन्न यह अति बहुल । उत्तम पुरुष ॥ ३१ ॥

जैसे काष्टमें काष्ठसे भिन्न । भरा रहता अग्नि अर्जुन ।
वैसे क्षर-अक्षरसे भिन्न । रहता है यह ॥ ३२ ॥

अपनी सीमाओंको निगलकर । नदी नदोंको एक करता नीर ।
पूर्णत्वमें उठता एक होकर । कल्पांतका उदधि ॥ ३३ ॥

वैसे स्वप्न या नहीं सुषुप्ति । नहीं रहती वहां जागृति ।
जैसे निगलता दिन-राति । कल्पांतका तेज ॥ ३४ ॥

फिर नहीं एकत्व या द्वैत । है या नहीं जानता है पार्थ ।
प्रतीति लोप हुई हो दीप्त । रहा नहीं कुछ ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जो कुछ है । वही उत्तम-पुरुष है ।
इसीको सब कहते हैं । परमात्मा ॥ ३६ ॥

वह भी यहां लय नहीं होके । बोलना जीवत्वमें ही रहके ।
बोलना किनारेमें ही बैठके । डूबे हुएकी बातें ॥ ३७ ॥

वैसे विवेक तट पर । कहते खडा रहकर ।
पैल तीरकी धनुर्धर । बातें वेद ॥ ३८ ॥

तभी पुरुष क्षराक्षर । दोनों देखके इस और ।
इसके कहते हैं पर- । आत्म-रूप ॥ ३९ ॥

यहां है इस प्रकार । परमात्म शब्द पर ।
सुनाते हैं धनुर्धर । पुरूषोत्तम ॥ ५४० ॥

वैसे है मौनसे ही बोलना । न जाननेसे वहां जानना ।
तथा न होनेसे ही है होना । वह तत्व ॥ ४१ ॥

सोऽहम् भाव है अस्त होता । कहनेवाला कोई न होता ।
द्दष्टत्व सह जाना है पार्थ । जाना दृष्य भी ॥ ४२ ॥

बिंब तथा है प्रतिबिंबकी । न ले सकते प्रभा बीचकी ।
कहना नहीं प्रभा कहांकी । ऐसे कभी ॥ ४३ ॥

घ्राण तथा पुष्पके मध्य । सुवास रहता है हृद्य ।
आंखोंसे दीखना असाध्य । उसे ना कहना ॥ ४४ ॥

वैसे दृष्यादृष्य दोनों मिटता । फिर क्या है यह कौन कहता ।
इसी अनुभवसे है देखता । वह जो रूप ॥ ४५ ॥

वह है प्रकाश बिन प्रकाश । ईशितव्यके बिना है जो ईश ।
अपनेसे भरता अवकाश । आप ही सारा ॥ ४६ ॥

नादसे जो सुनना नाद । स्वादसे है चखना स्वाद ।
अनुभवना जो आनंद । आनंदसे ही ॥ ४७ ॥

सुख ही जहां सुख पाता । तेजसे है तेज मिलता ।
शून्य भी जहां डूब जाता । महाशून्यमें ॥ ४८ ॥

पूर्णताका जो परिणाम । पुरुष वह सर्वोत्तम ।
विश्रांतिका भी है विश्राम । जहां लेता विश्रांति ॥ ४९ ॥

विकार पर भी जो रहता । ग्रासको ग्रासकर पूर्णता ।
बहुतसे जो बहुत होता । बहुत गुना ॥ ५५० ॥

चैतन्य विश्वाकार कैसे दीखता है ?—

जो अज्ञानीके प्रति । रजतकी प्रतीति ।
चांदी न होके शुक्ति । करती जैसे ॥ ५१ ॥

अथवा जो अलंकार रूपमें । न छिपके सोना छिपता उसमें ।
विश्व न होकर भी वैसे विश्वमें । वह है विश्वाधार ॥ ५२ ॥

अथवा जैसे जल तरंग । पानीसे रहता है अभंग ।
वैसे प्रतीत करता जग । वह है प्रकाश ॥ ५३ ॥

अपने संकोच विकास । आप ही कारण वीरेश ।
जलमें चन्द्र होता जैसा । स्वयं आप ॥ ५४ ॥

वैसे विश्वात्ममें जो कुछ होता । विश्व-लोपसे कहीं नहीं जाता ।
जैसे रात दिनमें नहीं होता । दो प्रकारका सूर्य ॥ ५५ ॥

वैसे कहीं किसी ओरसे । कम नहीं होता किसीसे ।
सदैव रहता है वैसे । अपना-सा वह ॥ ५६ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

पुरुषोत्तमका विवेचन—

अपनेसे ही जो अर्जुन । प्रकाशता आप है जान ।
क्या कहूँ उसके समान । नहीं अन्य ॥ ५७ ॥

वह हूँ मैं निरुपाधिक । क्षराक्षरोत्तम हूँ एक ।
इसीलिये वेद और लोक । कहते पुरुषोत्तम ॥ ५८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

ऐसा जो मैं पुरुषोत्तम । जानना मुझे प्रियोत्तम ।
उदय होते ही उत्तम । ज्ञान सूर्य ॥ ५९ ॥

होते ही जागृतिका ज्ञान । मिट जाता है जैसे स्वप्न ।
स्फुरता उसे त्रिभुवन । सारा व्यर्थ ॥ ५६० ॥

मैं क्षराक्षरसे भी जो भिन्न हूं और उत्तम ।
इससे देव लोगोंने कहा है पुरुषोत्तम ॥ १८ ॥
हठाके मोहको दूर जाने मैं पुरुषोत्तम ।
मुझको भजते हैं वे सर्वज्ञ सर्व-भावसे ॥ १९ ॥

अथवा माला हाथमें लेनेसे। सर्पाभास भय मिटता जैसे।
मेरे पुरुषोत्तमत्व-बोधसे। जगाभाससे छूटता ॥ ६१ ॥

अलंकार सोनेका है जो जानता। अलंकारके मोहमें नहीं आता।
उसी भांति मुझको जो है जानता। छूटता भिन्नत्व ॥ ६२ ॥

फिर सर्वत्र सच्चियदानंद। कहता मैं एक स्वयं सिध्द।
अपनेमें अन्य कोई भेद। नहीं जानता ॥ ६३ ॥

उसीसे है सब जाना। अल्प है यह कहना।
उसके लिये तू जान। नहीं रहा द्वैत ॥ ६४ ॥

इसलिये मेरा भजन। वही एक योग्य है जान।
गगन जैसा अलिंगन। करता गगनका ॥ ६५ ॥

जैसे क्षीर-सागरको भोजन। दे सकता क्षीर-सागर बन।
या अमृत होकर ही मिलन। अमृतसे जैसे ॥ ६६ ॥

मिलानेसे सुवर्ण शुध्द। मिलता है सुवर्ण शुध्द।
वैसे मैं बनकर सिध्द। मेरी भक्ति ॥ ६७ ॥

अजी! सिंधु रूप यह नहीं होती। गंगा सिंधुसे कहो कैसे मिलती।
इसीलिये मैं न बनकर भक्ति-। में कैसा प्रवेश ॥ ६८ ॥

इसीलिये है सभी प्रकार। कल्लोल अनन्य है सागर।
ऐसे मुझसे है धनुर्धर। भजता है जो ॥ ६९ ॥

जैसे सूर्य और प्रभा। एक रूप और लोभ।
वैसे ही योग्यता लाभ। उस भजनका ॥ ६७० ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

ऐसा गूढ कहा शास्त्र निष्पाप तुझसे यह।
इसको जानके धीर होते हैं कृत कृत्य ही ॥ २० ॥

यह शब्द-ब्रह्मका नवनीत है—

जबसे किया कहना प्रारंभ । अब तक सब शास्त्रावलंब ।
कहा है उपनिषद सौरभ । कमलका मान ॥ ७१ ॥

यह शब्द-ब्रह्मका मथित । तथा व्यास प्रज्ञाके है हाथ ।
मंथन कर जो नवनीत । सार लिया हमने ॥ ७२ ॥

ज्ञानामृतकी है जो जान्हवी । आनंद-चंद्रकी सत्रहवी ।
विचार क्षीरार्णवकी नवी । लक्ष्मी है यह ॥ ७३ ॥

तभी अपनी पद-वर्णसे । अर्थके यह जीव प्राणसे ।
मुझे छोड़ न जानती जैसे । महालक्ष्मी जो ॥ ७४ ॥

सम्मुख आया जब क्षराक्षरत्व । न कहा तब उनका पुरुषत्व ।
तथा समर्पण किया है सर्वस्व । मुझ पुरुषोत्तममें ॥ ७५ ॥

इसीलिये विश्वमें गीता । मुझ आत्मकी पतिव्रता ।
यह जो अब तू सुनता । इस समय ॥ ७६ ॥

सच बोलना तो यह नहीं शास्त्र । संसार जीतनेका है महाशस्त्र ।
तथा है आत्म अवतारका मंत्र । इन अक्षरोंमें ॥ ७७ ॥

तुझसे यह है कहा गया । यह ऐसा हुवा धनंजय ।
यह गौप्य धन निकलाया । मुझसे आज ॥ ७८ ॥

मुझ चैतन्य शंभुका माथा । जो गीता तत्व था वह पार्थ ।
उसका गौतम बन आस्था- । निधि तू आया ॥ ७९ ॥

अपनी निर्मलतासे अर्जुन । करते सम्मुख अवलोकन ।
बन कर तू आया दर्पण । हमारे लिये ॥ ५८० ॥

अथवा भरा हुवा चंद्र तारागण । नभ सिंधुमें होता अवतरण ।
वैसे ही मैं गीता सह अंतःकरण- । में डूबा तेरे ॥ ८१ ॥

यह गीता आत्म-ज्ञानकी लता है—

त्रिविध मल निश्चित । छोड़ गया तुझे पार्थ ।
तभी तू गीता सहित । बना मम स्थान ॥ ८२ ॥

किंतु क्या बोलूं यह गीता । मेरी ज्ञानकी है जो ख्या ।
जानता जो इसे समस्त । होता मुक्त मोहसे ॥ ८३ ॥

सेवन की अमृत सरिता । रोग गंवाकर पांडुसुत ।
अमरपन यह उचित । देती जैसे ॥ ८४ ॥

वैसे ही जाननेसे यह गीता । निर्मोह होना विस्मय क्या पार्थ ।
अपने आत्म-ज्ञानमें होना रत । होता सरल ॥ ८५ ॥

जिस आत्म-ज्ञानके स्थान । कर्म जो अपना जीवन ।
लय कर होगा अर्जुन । ऋण-मुक्त ॥ ८६ ॥

खोया हुआ दिखा कर जैसा । मार्ग जाता है वीर-विलास ।
ज्ञान बनता कलश वैसा । कर्म-प्रासादका ॥ ८७ ॥

इसीलिये ज्ञानी पुरुष । कर्म करता है निःशेष ।
बोलता अनाथोंका सखा । इस प्रकार ॥ ८८ ॥

इस गीता-ज्ञानकी परंपरा—

यह श्रीकृष्ण वचन-अमृत । न समानेसे छलकाता पार्थ ।
तब हुई है व्यास कृपा प्राप्त । संजयको यहां ॥ ८९ ॥

उसने धृतराष्ट्रको दिया । धृतराष्ट्रसे पान कराया ।
इसीलिये जीवांत भया । उसका सरल ॥ ५९० ॥

आया गीता श्रवण अवसर । लगा उसको नहीं अधिकार ।
किंतु जीवनांत समय पर । उससे मिला प्रकाश ॥ ९१ ॥

द्राक्षा-लतामें दूध डाला जाता । व्यर्थ गया यह ऐसा दीखता ।
फल पाकमें वह दूना होता । जिस प्रकार ॥ ९२ ॥

वैसे हरिमुखके अक्षर । संजयने कहे स-आदर ।
उससे अंध स-अवसर । हुवा दुखी ॥ ९३ ॥

उसकी कर देश-भाषा रचना । उसको ऐसी वैसी कर सज्जना ।
सुना दिया उसे मैंने जैसे वह जाना । श्रीचरणोंमें ॥ ९४ ॥

सेवंती जब अरसिक देखते । उसमें विशेष कुछ भी न पाते ।
किंतु सौरभसे सब कुछ लाते । भ्रमर सार ॥ ९५ ॥

ज्ञानेश्वर महाराजका विनय—

वैसे तत्वका करना स्वीकार । स्वामी देना मुझको लौटाकर ।
कुछ न जानना स्वभाव सार । अबोध शिशुका ॥ ९६ ॥

यद्यपि यह अनजान होता । उसको देख कर माता पिता ।
आनंद विभोर होके सतत । होते हैं प्रसन्न ॥ ९७ ॥

वैसे मेरे सर्वस हैं संत । उनसे करना लाड नित ।
वैसे ही लाड है यह ग्रंथ । मानेंगे आप ॥ ९८ ॥

कब विश्वात्मक यह माझा । स्वामी है निवृत्ति राजा ।
स्वीकार करें यह वाक्पूजा । कहता ज्ञानदेव ॥ ९९ ॥

१६

देवासुर-संपद्विभाग-योग

सूर्य श्रीगुरु वंदन–

मेटाते हुये विश्वका आभास । उदित हुआ विस्मित चंडांश ।
प्रद्वय-कमलिनीका विकास । नमन करें अब ॥ १ ॥

अविद्या-तम जो दूर करता । ज्ञानाज्ञान तारोंको निगलता ।
ज्ञानियोंका है सुदिन करता । स्वबोधका ॥ २ ॥

जिससे उदित होते ही दिन । खुलके आत्म-ज्ञानके नयन ।
राजता है जीव-पक्षी अर्जुन । देहभावका घोंसला ॥ ३ ॥

लिंग-देह कमल मध्यमें । फंसा चिद्भ्रमर बद्धतामें ।
बंध-मोक्ष होता है प्रकाशमें । उसके उदयसे ॥ ४ ॥

सिकुडे पथमें शस्त्र-शब्दोंके । दोनों किनारोंमें भेद-नदीके ।
चीखते हैं पागल विरहके । बुद्धि औ' बोध ॥ ५ ॥

उन चक्रवाकोंका मिथुन । समरसका जो समाधान ।
प्रतीत करता चिद्गगन । भुवनका दीप ॥ ६ ॥

जिसके उदयका प्रातःकाल । मिटाता है भेद-चोरका काल ।
आत्मानुभव-पथिक सकल । चलते योगी ॥ ७ ॥

जिसके विवेक-किरण संग । उन्मेष-सूर्यकांतके स्फुलिंग ।
जला देता है अरण्य-विभाग । संसारके ॥ ८ ॥

रश्मि-पुंज जिसका अति प्रखर । होते ही स्वरूप ऊसरमें स्थिर ।
आता वहां महा सिद्धियोंका पूर । मृगजलका ॥ ९ ॥

अजी प्रबोधके माथे पर । सोऽहंताका मध्यान्ह आकर ।
आत्म-भ्रांति छाया जो सत्वर । छिपती पदतलमें ॥ १० ॥

तब विश्व-स्वप्न सहित । अन्यथा मति जो निद्रित ।
न रहती जब माया रात । सम्हालेगा कौन ॥ ११ ॥

तभी अद्वय-बोध-पुरमें अति । महदानंदकी भीडभाड होती ।
फिर सुखानुभूतिकी उतरती । बात लेनदेनकी ॥ १२ ॥

अथवा माना सदा ऐसा । मुक्त-कैवल्य सुदिवस ।
देता है सदैव प्रकाश । उदयसे उसके ॥ १३ ॥

निज-धाम-व्योमका राव । उदित रहता सदैव ।
उदयास्त दिशाका ठाव । मिटाता है वह ॥ १४ ॥

न दीखना दीखने सह मिटाता । दोनोंसे ढका हुवा जो उजलाता ।
उसका प्रातःकाल ही भिन्न होता । अवर्णनीय ॥ १५ ॥

दिन-रातके जो उस पार । प्रकाश रूप ज्ञान-भास्कर ।
दीप्ति बिन दीप्ति है अपार । देखता कौन ॥ १६ ॥

मौन छोडकर गुरु-गुण-वर्णनके लिये क्षमा याचना—

श्रीनिवृत्ति वह चित्सूर्य । नमन उसे स-विनय ।
बाधक है स्तवन-कार्य । शाब्दिक जो यहां ॥ १७ ॥

गुरु-देवकी महिमा देखकर । स्तवन करना हो यदि सुंदर ।
गुरु-चरणमें लीन हो तत्पर । स्तव्य-बुद्धिसे ॥ १८ ॥

न जानते जो सब जानते । मौन निगल बखाने जाते ।
कुछ भी न होनेसे हैं आते । अपने यहां जो ॥ १९ ॥

तेरी स्तुतिमें होना जिसे तत्पर । पश्यंति मध्यमाको निगलकर ।
होती है परा सह वैखरी फिर । जहां विलय ॥ २० ॥

एसे तुझमें सेवकपनमें । शब्द-स्तोत्र-भूषण चढानेमें ।
यह सहनकर कहनेमें– । भी न्यून अद्वयानंद ॥ २१ ॥

कैतु रंकने देखा अमृत सागर । तब जो उचितानुचित भूलकर ।
दौडा करने उसका पाहुनाचार । लेकर साग-पात ॥ २२ ॥

यहां साग-पात ही बहुत कहना । उसके हर्ष-वेगपर ध्यान देना ।
दीपसे सूर्यकी आरती उतारना । यहां देखना भक्ति ॥ २३ ॥

बालक यदि उचित जानता । उसका बालपन क्या रहता ।
किंतु होती है जो उसकी माता । तोषती बहू ॥ २४ ॥

गांवकी गंदगीसे भरा जो नीर । आता है सिर पर पैर देकर ।
तब कहती क्या गंगा हठो दूर । उससे कभी ॥ २५ ॥

अजी ! कैसा था भृगुका अपाचार । उसको मानकर प्रियोपचार ।
तब की हरिने संतुष्ट होकर । गुरुकी पाद्य-पूजा ॥ २६ ॥

आता जब गगन तमसे भर । सूर्यके सम्मुख तब देखकर ।
कहता है क्या भास्कर "तू हो दूर ।" कभी ऐसे ॥ २७ ॥

वैसे भेद-बुद्धिकी तुला पर । सूर्योपमाके शब्द डालकर ।
तोला है जो मैंने श्रीगुरुवर । सहन करें स्वामी ॥ २८ ॥

देखा जिन्होंने ध्यान-चक्षुसे । वर्णन किया है वेद-काव्यसे ।
वह सब क्षमा किया जैसे । मुझे भी क्षमा कर ॥ २९ ॥

किंतु आज मैं तेरे गुणगानमें । ललचाया दोष न मान मनमें ।
न उठूंगा कभी मैं अर्ध-तृप्तिमें । कुछ भी हो फिर ॥ ३० ॥

मम-जन्मांतरके सत्य-वचन-तपका फल है यह गीतार्थ —

गीताके नामसे तेरा सतत । सेवन करता प्रसादामृत ।
तभी वर्णन किया है ईप्सित । दैवसे मिला दूना ॥ ३१ ॥

किया सत्य-वचनका तप । मेरी वाणीने अनेक कल्प ।
उस फलका है महा-दीप । मिला यह स्वामी ॥ ३२ ॥

पुण्य-पोषण किया असाधारण । उससे ही हुवा तेरा गुण-वर्णन ।
यह फल देकर हुए उऋण । आज वे स्वामी ॥ ३३ ॥

मैं जीव-दशाके अरण्यमें । जा फंसा था मृत्युके गांवमें ।
वह दुर्दशा इस क्षणमें । मिटाई आपने ॥ ३४ ॥

गीता नामसे जो है यह विख्यात । अविद्याको जीत हुवा दृढ गात ।
वह तेरी कीर्ति हुई है वर्णित । हृदयसे सहज ॥ ३५ ॥

जो था अकिंचनका निवास-स्थान । वहां लगाया आ लक्ष्मीने आसन ।
तब कह सकते हैं क्या निर्धन । उसको कभी ॥ ३६ ॥

अथवा देख अंधकारका स्थान । वहां आया दैवसे चंडांशु मान ।
वह अंधःकार ही प्रकाश महान । होता है जैसे ॥ ३७ ॥

देखनेसे जिस देवकी श्रेष्ठता । विश्वको न आती अणुकी योग्यता ।
भक्तके भाव-सम न हो सकता । क्या वह देव ॥ ३८ ॥

वैसे मेरा गीताका व्याख्यान । सूंघ लेता गगनका सुमन ।
पूर्ण करते जो अरमान । आप समर्थ ॥ ३९ ॥

तब तेरे ही प्रसादसे । गीता–पद अगाध ऐसे ।
स्पष्ट करूं निरूपणसे । कहता ज्ञानदेव ॥ ४० ॥

ज्ञान प्राप्तिके बाद और कुछ पाना नहीं रहता —

पंद्रहवे अध्यायमें । कहा कृष्णने अल्पमें ।
पार्थको पूर्ण रूपमें । शास्त्र सिद्धांत ॥ ४१ ॥

जो है वृक्ष रूपक परिभाषा । कहती उपाधि रूप अशेष ।
सद् वैद्य दिखाता है सभी दोष । शरीरगत जैसे ॥ ४२ ॥

तथा जो कूटस्थ अक्षर । दिखाया पुरुष प्रकार ।
जिससे उपहिताकार । चैतन्य सह ॥ ४३ ॥

फिर उत्तम पुरुष । करके शब्दका मिष ।
दिखाता है हृषीकेश । आत्मतत्त्व ॥ ४४ ॥

तथा कहा आत्म प्राप्त्यर्थ । साधन जो अति समर्थ ।
वह ज्ञान भी यथार्थ । कहा स्पष्ट ॥ ४५ ॥

तभी है इस अध्यायमें । न रहा कुछ कहनेमें ।
अब रहा गुरु-शिष्योंमें । स्नेहाचार ॥ ४६ ॥

ऐसे इस विषयकी बात । हो गयी है ज्ञानियोंको ज्ञात ।
किंतु हुए अन्य आकांक्षित । मुमुक्षुजन ॥ ४७ ॥

ऐसे जो मैं पुरुषोत्तम । ज्ञानसे मिलता सुधर्म ।
वह सर्वज्ञ मैं औ' सीमा । वही भक्तिकी ॥ ४८ ॥

इस भांति यह त्रिलोक नायक । बोला उस अध्यायका एक श्लोक ।
तब वहां तोषसे वर्णन एक । किया विज्ञानका ही ॥ ४९ ॥

संसारका एक कौर कर । जीवको एक दृष्टिसे देखकर ।
आनंद साम्राज्य सिंहासन पर । बिठाया है यह ॥ ५० ॥

उपाय नहीं इतना समर्थ । कहता है देव अन्य यथार्थ ।
यही एक सम्यक् ज्ञानका नाथ । सभी उपायोंमें है ॥ ५१ ॥

ज्ञान प्राप्तिका उपाय—

होते जो आत्म-जिज्ञासु ऐसे । सादर तथा प्रसन्नतासे ।
उतारते हैं ज्ञान परसे । अपना जीव ॥ ५२ ॥

जिस पर जब प्रेम होता । वही वही सम्मुख है आता ।
अन्य सबको पीछे हठाता । ऐसे है प्रेमका ॥ ५३ ॥

इसी लिये मुमुक्षु जिज्ञासुओंमें । नहीं करते ज्ञानानुभव अपनेमें ।
करेंगे योग-क्षेम ज्ञानके विषयमें । स्वाभाविक रूपसे ॥ ५४ ॥

तब है जो वह सम्यक्ज्ञान । कैसे होगा अपने स्वाधीन ।
या मिला उसका वृद्धि-यत्न । होगा कैसे ॥ ५५ ॥

या न होने देता जो ज्ञान उत्पन्न । तथा उदित ज्ञानका अप्रयोजन ।
ऐसे ज्ञान विरुद्धका होना भान । यह आवश्यक ॥ ५६ ॥

फिर ज्ञानका जो प्रतिकूल । दूर करना वह सकल ।
तथा ज्ञानका जो अनुकूल । करें स्वीकार ॥ ५७ ॥

जिज्ञासु-जन आप समस्त । सोचते ऐसे अपने चित्त ।
यह पूर्ण करने यथार्थ । बोलेंगे श्रीहरि ॥ ५८ ॥

जिससे होगा ज्ञान उत्पन्न । आप होंगे विश्रांतिसे पूर्ण ।
ऐसे दैवी-गुणोंका वर्णन । करेंगे श्रीहरि ॥ ५९ ॥

ज्ञानका कर अनादर । राग-द्वेषको दे आधार ।
वे आसुरी गुण भी घोर । कहेंगे स्पष्ट ॥ ६० ॥

इष्टानिष्ट दोनों स्वाभाविक । करता है जिनका कौतुक ।
उनका कथन किया देख । पहले नवममें ॥ ६१ ॥

वहां करना था इसका विस्तार । वहां अन्य विषय हुवा गोचर ।
तब यहां किया प्रसंगानुसार । उसका निरूपण ॥ ६२ ॥

इसका अब निरूपण । सोलहवेंमें करेंगे पूर्ण ।
क्रमानुगत संख्या जान । पहलेसे जो ॥ ६३ ॥

रहने दो यहां है जो प्रस्तुत । जाननेमें ज्ञानका हिताहित ।
देवासुर संपदा है समर्थ । कहेंगे अब ॥ ६४ ॥

जो है मुमुक्षुओंका पथ दर्शक । तथा मोह-रात्रिका तम नाशक ।
कहती दैवी संपदा अलौकिक । सुनो वह प्रथम ॥ ६५ ॥

जहां परस्पर पोषक । ऐसे पदार्थ जो अनेक ।
एकत्र करते हैं लोक । कहते हैं संपदा ॥ ६६ ॥

सुख संभावना जो दैवी । तथा दैवी गुणोपजीवी ।
होती है इसीलिये दैवी । संपत्ति है वह ॥ ६७ ॥

भगवान उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्री भगवानने कहा

निर्भयत्व मनःशुद्धि व्यवस्था ज्ञानयोगमें ।
यज्ञ निग्रह दातृत्व स्वाध्याय ऋजुता तप ॥ १ ॥

दैवी-गुण, अभय—

अब जो दैवी गुणके श्रेष्ठ । आसन पर बैठता ज्येष्ठ ।
गुण कहलाता है वरिष्ठ । अभय ऐसे ॥ ६८ ॥

कूदा ही नहीं महा-पूरमें । तब डूबना कहो किसमें ।
या रोग नहीं आता घरमें । पथ्यके कभी ॥ ६९ ॥

वैसे कर्माकर्मका अहंकार । उठने नहीं देता धनुर्धर ।
तथा संसार भय तजकर । रहना सदैव ॥ ७० ॥

अथवा ऐक्य भावसे भरकर । अपनेसे अन्य नहीं मानकर ।
भय-वार्ताको करता सीमा पार । पूर्ण रूपसे ॥ ७१ ॥

जब लवणको पानी डुबाता । तब लवण ही पानी बनता ।
वैसे आप ही अद्वय बनता । नाशता भय ॥ ७२ ॥

जिसको कहते हैं अभय । वह समझनेसे अद्वय ।
चलता रहता धनंजय । सदा सर्वत्र ॥ ७३ ॥

दैवी-गुण, सत्त्वसंशुद्धि—

तथा सत्त्वशुद्धि जो कहलाता । ऐसे लक्षणोंसे है जाना जाता ।
जो न जलता या नहीं बुझता । राखके जैसे ॥ ७४ ॥

या शुक्लमें जो न बढ़ता । या कृष्णमें जो न घटता ।
वैसे सूक्ष्म होके रहता । चंद्रमा जैसे ॥ ७५ ॥

या वर्षाका उतरा महापूर । ग्रीष्मका शुरू न हुवा उतार ।
वैसे निज रूपमें हो सुंदर । गंगा प्रवाहसा ॥ ७६ ॥

वैसे संकल्प विकल्पका खींचाव । रज तमका तज बोझ दबाव ।
अनुभवता निज-धर्म स्वभाव । बुद्धिमात्र ॥ ७७ ॥

इन्द्रिय-समूहसे जो दर्शित । उचित अथवा हो अनुचित ।
देख चित्त नहीं होता स्पंदित । किंचितमात्र ॥ ७८ ॥

घरसे दूर गया वल्लभ । पतिव्रताका विरह क्षोभ ।
भुला देता अन्य हानि लाभ । मनमें न डसता वैसे ॥ ७९ ॥

वैसे ही सत्त्वरूपमें पार्थ । अनन्य हो रहना सतत ।
सत्त्व-शुद्धि कहता श्रीनाथ । असुरारी जो ॥ ८० ॥

३ दैवी-गुण, योगज्ञान व्यवस्थित—

तथा जो आत्म-लाभके विषयमें । ज्ञान या योग दोनोंमेंसे एकमें ।
रखना अचल निष्ठा हृदयमें । योग्यतानुरूप ॥ ८१ ॥

अपनी सभी चित्त वृत्ति । तजना वहां इस भांति ।
निष्काम देता पूर्णाहुति । यज्ञमें जैसे ॥ ८२ ॥

या कुलीन कन्यादान । दिया सत्कुलमें ही मान ।
या लक्ष्मी स्थिर हुई जान । नारायणमें ॥ ८३ ॥

ऐसे अनन्य होकर । योग-ज्ञानमें स्थिर ।
होना जो गुण तीसरा । जाण तू पार्थ ॥ ८४ ॥

४ दैवी-गुण, दान—

तथा तन मन वचनसे । संपन्नतानुसार वित्तसे ।
आर्त शत्रुको भी ऋजुतासे । पांडुकुमार ॥ ८५ ॥

पत्र पुष्प तथा छाया । फल फूल धनंजया ।
पथिक जो पास आया । देता वृक्ष जैसे ॥ ८६ ॥

वैसे मनसे धन तक सब । जब जैसे आवश्यक हो तब ।
काममें लाना आता श्रांत जब । विश्रामार्थ ॥ ८७ ॥

इसको कहते हैं दान । जो मोक्ष निधान अंजन ।
रहने दे अब अर्जुन । सुन तू दम ॥ ८८ ॥

५ दैवी-गुण, दम—

अजी ! जो विषयेंद्रियोंका मिलन । उसको भंग कर देता भिन्न ।
जैसे खडु गंदला पानी अर्जुन । करता शुद्ध ॥ ८९ ॥

विषय स्पर्श न होने देता । इंद्रियोंको बचाके रखता ।
नियम बद्ध कर सौंपता । प्रत्याहारके ॥ ९० ॥

चित्त तक सब तज अंदर । प्रवृत्ति चली जाती है बाहर ।
तब सजाता है इंद्रिय द्वार । वैराग्याग्निसे ॥ ९१ ॥

श्वासोच्छ्वाससे भी जो कठिन । व्रत आचरता निशिदिन ।
उसमें न मिलता है क्षण । विश्रांति उसको ॥ ९२ ॥

दम कहते हैं जिसे । उसके लक्षण ऐसे ।
यागार्थको संक्षेपसे । कहता हूं सुन ॥ ९३ ॥

दैवी-गुण, यज्ञ—

ब्राह्मणोंसे स्त्रियों तक । सबका विधिपूर्वक ।
अपना कर्तव्य नेक । करना सब ॥ ९४ ॥

जिसका है जो सर्वोत्तम । भजनीय देवता-धर्म ।
वह उसका यथागम- । पूर्वक करना ॥ ९५ ॥

द्विज जैसे षट्कर्म करता । उसे शूद्र नमन करता ।
उन दोनोंका समान होता । यह यज्ञकर्म ॥ ९६ ॥

अधिकारानुसार अपना । सबका ऐसे यज्ञ करना ।
उससे फलाशा न करना । विष रूप जो ॥ ९७ ॥

तथा मैं करता ऐसा भाव । न लें देह कार्यका पांडव ।
किंतु वेदकी आज्ञाका ठाव । होकर रहना ॥ ९८ ॥

अर्जुन ! यह है संज्ञा । सर्वत्र जान तू यज्ञ ।
कैवल्य-मार्गका विज्ञ । कहता यह ॥ ९९ ॥

दैवी-गुण, स्वाध्याय—

गेंदसे जैसे भूमिको जो मारना । मारना नहीं गेंद हाथमें लाना ।
अथवा खेतमें बीजको फेंकना । उपजके लिये ॥ १०० ॥

या रखी वस्तू देखनेके लिये । आदरसे जाते हैं दिया लिये ।
शाखामें फल फलनेके लिये । सींचते हैं मूल ॥ १ ॥

जाने दे यह जैसे है शीसा । आप देखनेके लिये ऐसा ।
पोंछ पोंछ रखते हैं स्वच्छ-सा । प्रीतिसे नित ॥ २ ॥

वैसे प्रतिपाद्य जो ईश्वर । होनेके लिये वह गोचर ।
करना श्रुतिका निरंतर । अभ्यास पार्थ ॥ ३ ॥

द्विजोंको देखना ब्रह्मसूत्र । अन्योंको स्तोत्र या नाममंत्र ।
आवर्तन करना पवित्र । देखने तत्व ॥ ४ ॥

कहलाता है यह स्वाध्याय । सुन तू यह धनंजय ।
तप शब्दका अभिप्राय । कहता हूं अब ॥ ५ ॥

८ दैवी–गुण, तप—

दानका अर्थ है सर्वस्व देना । व्ययको संपूर्ण व्यर्थ करना ।
फलकर जैसे स्वयं सूखना । वनस्पतिका धर्म ॥ ६ ॥

अन्यान्य धूपका जैसे अग्नि-प्रवेश । कनकमें जैसे मलका नाश ।
या बढ़ते पित्र-पक्षमें ह्रास । जैसे चंद्रमाका ॥ ७ ॥

वैसे स्वरूप प्राप्तिके कारण । गलाना तन मन प्राण ।
दक्ष रह करके प्रतिक्षण । कहलाता तप ॥ ८ ॥

अथवा तपका रूप भिन्न । अन्य कोई है तो तू जान ।
दूधमें डाली जैसे चोंच अर्जुन। हंसकी जो ॥ ९ ॥

वैसे देह जीवका मिलन । उसमें पानी करता भिन्न ।
वह विवेक अंतःकरण । जगाये रखना ॥ ११० ॥

देखते मानो आत्माकी ओर । बुद्धि संकोच होता सत्वर ।
निद्रा स्वप्न जैसे धनुर्धर । जागृतिमें डूबते ॥ ११ ॥

वैसे आत्म - आलोचन । होता सही प्रवर्तन ।
तपका सही अर्जुन । होता अर्थ ॥ १२ ॥

९ दैवी–गुण, आर्जव = ऋजुता—

बालकके लिये जैसे स्तन्य । होता भूतमात्रमें चैतन्य ।
वैसे जीवमात्रमें सौजन्य । कहलाता आर्जव ॥ १३ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

१० दैवी-गुण, अहिंसा—

विश्व-हित उद्देश्यसे । तन वचन मनसे ।
रहना जो दक्षतासे । अहिंसा जान ॥ १४ ॥

११ दैवी-गुण, सत्य—

तीक्ष्ण होकर भी मृदुल । जैसे स्वभावसे मुकुल ।
तेज होकर भी शीतल । शशांकका ॥ १५ ॥

दिखाते ही करे रोग निवारण । किंतु न लगे जिव्हामें जान ।
ऐसी औषधी न होनेके कारण । उपमा दूं कैसे ॥ १६ ॥

मृदुतामें जैसे आखोंकी पूतली । किंतु है रगडने पर भी भली ।
वैसे फोडती पत्थरकी भी शिली । उदक जैसे ॥ १७ ॥

वैसे संदेह करनेमें दूर । मानो अति तीक्ष्ण तलवार ।
किंतु है सुननेमें मधुर । मधुसे भी ॥ १८ ॥

सुननेमें कौतुक । कानोंको होता सुख ।
सत्यतामें है देख । भेदता ब्रह्मको ॥ १९ ॥

अथवा जो कभी प्रियत्वमें । न आता किसीके झांसेमें ।
पूर्ण होकर भी सत्यमें । किसीको चुभता नहीं ॥ १२० ॥

वैसे तो व्याध-ध्वनि कर्ण-मधुर । अंत लाती है अतीव भयंकर ।
अग्नि जलाता है वैसे खुलकर । जले वह सत्य ॥ २१ ॥

रहता है अति कर्ण-मधुर । किंतु छीलता हृदय गव्हर ।
ऐसी भाषा भाषा नहीं सुंदर । होती है बला ॥ २३ ॥

अहितमें जैसे हो क्रोधानल । लालनमें सुमनसे कोमल ।
माताका रूप है यह सरल । वाचाका भी ॥ २४ ॥

अहिंसा सत्य अक्रोध त्याग शांति अपैशुन ।
निर्लोभ स्थैर्य माधुर्य मर्यादा जीवमें दया ॥ २ ॥

वैसे ही हो सुननेमें सुखमय । परिणाममें सत्य मंगलमय ।
बोलनेमें अविकार औ' सदय । सत्य है वह ॥ २५ ॥

१२ दैवी–गुण, अक्रोध–

जैसे कितना ही पानी डालकर । शिलामें नहीं फूटता है अंकुर ।
अथवा छासको बहु मथकर । आता क्या नवनीत ॥ २६ ॥

केंचुलीके सिर पर पैर । मारा तो क्या उठाता है सिर ।
तथा वसंतमें भी अंबर । नहीं देता फूल ॥ २७ ॥

जैसे रंभाके भी अनेक रूप । न जगा सका शुकमें कंदर्प ।
या राखमें न होती है उदीप्त । घृतसे भी आग ॥ २८ ॥

शिशु भी क्रोधित हो वैसे । कुवाचाके बीजाक्षरोंसे ।
अथवा अन्य उपायोंसे । किसी समय ॥ २९ ॥

ब्रह्मको भी नमन कर पार्थ । गतायु कभी न होता जागृत ।
वैसे उसमें कभी न जागृत । होता क्रोध तरंग ॥ १३० ॥

१३ दैवी–गुण, त्याग–

मृत्तिका त्यागसे घट । तंतुके त्यागसे पट ।
बीजके त्यागसे वट । त्याग जैसे ॥ ३१ ॥

या तजकर भित्तिमात्र । तजता है संपूर्ण चित्र ।
या निद्रा-त्यागसे विचित्र । स्वप्न जाल ॥ ३२ ॥

तथा जल त्यागसे तरंग । वर्षा त्यागसे अनेक मेघ ।
वैसे झडते हैं समस्त भोग । धन-त्यागसे ॥ ३३ ॥

वैसे ही जो बुद्धिमंत । तजते हैं देहाहंता ।
जिससे संसार जात । छूटते हैं ॥ ३४ ॥

इसका नाम है त्याग । कहता वह यज्ञांग ।
यह मानके सुभग । पूछता पार्थ ॥ ३५ ॥

३ दैवी–गुण, शांति—

अब शांतिका लक्षण । कह तू मुझे श्रीकृष्ण ।
कृष्ण कहता अर्जुन । सुन तू अब ॥ ३६ ॥

निगलकर जब ज्ञेय । ज्ञाता ज्ञान भी धनंजय ।
मिट जाता जिस समय । मिलती जो शांति ॥ ३७ ॥

जैसे प्रलयांबुका उभार । डुबाकर विश्वका प्रसार ।
अपनेमें ही रहता नीर । भरके आप ॥ ३८ ॥

उगम ओघ तथा सागर । न रहता यह व्यवहार ।
सर्वत्र अनुभवता नीर । वह भी कौन ॥ ३९ ॥

वैसे ज्ञेयका होते ही आलिंगन । ज्ञातृत्व भी होता उसमें लीन ।
फिर रहता जो कुछ अर्जुन । वह है शांति ॥ १४० ॥

४ दैवी–गुण, अनिंदा—

जैसे रोगको दूर कर । पुष्ट करनेमें शरीर ।
न देखता है आप पर । कभी सद्वैद्य ॥ ४१ ॥

या कीचमें फंसी गाय देखकर । नहीं देखा जाता सूखी या दुधार ।
उसकी जीवन व्यथा देख कर । चित्त होता व्याकुल ॥ ४२ ॥

डूबतेको देखकर सकरुण । न पूछता तू अंत्यज या ब्राह्मण ।
जानता उसके बचाना है प्राण । इतना मात्र ॥ ४३ ॥

महावनमें पापीसे नग्न । की हुई स्त्रीको कोई सज्जन ।
उसको वस्त्र पहने बिन । न देखता जैसे ॥ ४४ ॥

वैसे अज्ञान या प्रमादमें । अथवा दुर्दैव या दोषमें ।
सभी प्रकारके निंद्यत्वमें । जकडे गये जो ॥ ४५ ॥

उन्हे अपने अंगके । भले गुण दे करके ।
भुलाते हैं चुभनेके । सभी शल्य ॥ ४६ ॥

अजी ! दूसरोंके सभी दोष । अपनी दृष्टिसे कर चोख ।
उनकी ओर वे फिर नेक । दृष्टिसे देखते ॥ ४७ ॥

पूज कर जैसे देव देखना । बुवाई करके खेतमें जाना ।
संतुष्ट करके प्रसाद लेना । अतिथिका जैसे ॥ ४८ ॥

ऐसे लगाकर अपने गुण । दूर कर औरके अवगुण ।
देखा करता है जो अर्जुन । सबकी ओर ॥ ४९ ॥

न करना मर्माघात । न उलझाना पापमें पार्थ ।
सदोष नामसे उल्लिखित । न करना कभी ॥ १५० ॥

तथा करके कोई उपाय । पतित खडा हो धनंजय ।
ऐसे ही करना सभी कार्य । न हो मर्माघात ॥ ५१ ॥

अधमको भी मान । उत्तम ही अर्जुन ।
कभी इसके बिन । न देखें दोष ॥ ५२ ॥

अनिंदाका यह लक्षण । जान तू होता है अर्जुन ।
मोक्ष-मार्गका सुखासन । मुमुक्षुओंका ॥ ५३ ॥

१६ दैवी–गुण, दया—

अब दया है ऐसी । पूर्ण चंद्रिका जैसी ।
शीतलता एकसी । देती सबको ॥ ५४ ॥

वैसे दुखितोंका कष्ट । दूर करना है इष्ट ।
उसमें श्रेष्ठ कनिष्ठ । देखता नहीं ॥ ५५ ॥

जगतमें जीवन जैसे । नाश होता है अंगसे ।
किंतु बचाना अपनेसे । तृणजात ॥ ५६ ॥

वैसे अन्योंका देख ताप । चटपटाता हो सकृप ।
सर्वस्व देकर भी आप । कुछ भी मानता नहीं ॥ ५७ ॥

जैसे गढ़ा देखकर अपूर्ण । पानी आगे नहीं बहता जान ।
वैसे श्रांतको तोष दिये बिन । आगे नहीं जाता ॥ ५८ ॥

पैरोंमें जब कांटा चुभता । उससे हृदय तडपता ।
वैसे कष्टोंसे चटपटाता । अन्योंके वह ॥ ५९ ॥

या पैरोंकी होती शीतलता । आखाका मिलता ह शातता ।
वैसे पर सुखसे हर्षाता । सदैव आप ॥ १६० ॥

या प्यासोंके लिये जैसे । पानीका जन्म है वैसे ।
दुखितोंके लिये वैसे । जीवन उसका ॥ ६१ ॥

ऐसे पुरुष धनंजया । मूर्तिमंत जान तू दया ।
उसके जन्मसे ही भया । ऋणी मैं उसका ॥ ६२ ॥

७ दैवी–गुण, अलोभ—

जीव-भावसे अनुसरता । सूर्य पुष्प सूर्यको सतत ।
किंतु सूर्य कभी नहीं लेता । सौरभ उसका ॥ ६३ ॥

अथवा वसंतमें आते अनंत । वनमें बहार वैभवके नित ।
किंतु उनको तजकर वसंत । चलता जैसे ॥ ६४ ॥

जाने दो महासिद्धियोंके साथ । लक्ष्मी आयी पास कहके नाथ ।
किंतु महा-विष्णु न देखता पार्थ । उसकी ओर ॥ ६५ ॥

वैसे लौकिक या पारलौकिक । आते भोग बनकर सेवक ।
किंतु तरंग न उठते देख । भोगके मनमें ॥ ६६ ॥

इससे कहना क्या अधिक । मनमें न उठे सकौतुक ।
अभिलाषा विषयकी देख । वह अलोलुप्य ॥ ६७ ॥

८ दैवी–गुण, मार्दव—

मदमाखियोंको छत्ता सुखकर । जलमें ही जैसे सुखी जलचर ।
या पक्षियोंको गगन धनुर्धर । होता है मुक्त ॥ ६८ ॥

या बालकके हितमें जैसे । माताका स्नेह होता है वैसे ।
वसंतमें छूता है हौलेसे । मलयानिल ॥ ६९ ॥

या आखोंको प्रियका दर्शन । पिल्लोंको कूर्मिका दृष्टि जान ।
वैसे है उसका आचरण । जीव-मात्रसे ॥ १७० ॥

स्पर्शमें जो है अति मृदु । मुखमें लिया तो मुस्वादु ।
घ्राणमें वैसे ही सुगंधु । अंगोंसे उज्वल ॥ ७१ ॥

यदि चाहे जितना भी लेता । कोई नुकसान नहीं होता ।
उसको तब है कहा जाता । कर्पूरसा वह ॥ ७२ ॥

महाभूत अपनेमें समालेता । तथा परमाणुमें भी जो समाता ।
जैसे विश्व है वैसे ही बन जाता । आकाश जैसा ॥ ७३ ॥

क्या कहूं मैं ऐसोंका जीवन । विश्वके लिये जीव धारण ।
उसको कहता हूं अर्जुन । मार्दव मैं ॥ ७४ ॥

१९ दैवी—गुण, मर्यादा : लज्जा—

तथा पराजयसे राजा । हीन दशामें जो सलज्ज ।
स्वाभिमानी होता निस्तेज । निकृष्टतामें ॥ ७५ ॥

या आया चंडालका सदन । अकस्मातही संन्यासी जान ।
होता है जैसे सलज्जमन । उत्तम जो ॥ ७६ ॥

क्षत्रियको रणसे भागना । कैसे सहना निर्लज्ज जीना ।
विधवा नामसे पुकारना । महासतिको जैसे ॥ ७७ ॥

सुरूपको महारोग भया । या शिष्टको कलंकित किया ।
प्राण संकटमें लजा गया । उसी भांति ॥ ७८ ॥

साडे तीन हाथका देह बना । तथा शवसा बनकर जीना ।
जनम ले लेकर मरना । पुनः पुनः जो ॥ ७९ ॥

गर्भके मेद सांचेमें । रक्त मूत्रके रसमें ।
पुतला बन जीनेमें । आती लज्जा ॥ १८० ॥

लेकर यह देहपन । नाम रूपका धारण ।
रहनेसे न कुछ भिन्न । लज्जा जनक ॥ ८१ ॥

ऐसेमें देहसे उकताकर । रहते हैं सूज्ञ पांडुकुमार ।
तथा मानते निर्लज्ज अपार । उसीमें सुख ॥ ८२ ॥

२० दैवी–गुण, स्थैर्य—

सूत्र तंतु जब टूट जाता । गुडियाका यै थै रुक जाता ।
वैसे प्राण-जयसे टूटता । कर्मेंद्रियोंका खेल ॥ ८३ ॥

या अस्त होते ही दिनकर । रुकता किरणोंका प्रसार ।
वैसे मनो-जयसे व्यापार । ज्ञानेंद्रियोंका ॥ ८४ ॥

ऐसे मन-प्राणका संयम । करता है इंद्रियां अक्षम ।
यह है अचांचल्यका मर्म । जानना यहां ॥ ८५ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

२१ दैवी–गुण, तेज—

संकट है मरनेका-सा । वह है अग्नि-प्रवेश-सा ।
प्राणेश्वरके लिये ऐसा । नहीं गणती सती ॥ ८६ ॥

वैसे आत्म-नाथके ध्यानमें भर । विषय विषकी बाधा दूर कर ।
जाता शून्यकी कांटेली राह पर । दौड़ना है उसको ॥ ८७ ॥

निषेधकी बाधा तब नहीं आती । विधिकी भीड़ भी उसे न रोकती ।
हृदयमें चाह कभी नहीं होती । महासिद्धियोंकी ॥ ८८ ॥

ईश्वराभिमुख हो ऐसे निज । दौड़ता अपने आप सहज ।
उसको कहते हैं सूज्ञ तेज । अध्यात्मिक जो ॥ ८९ ॥

२२ दैवी–गुण, क्षमा—

तथा रहता है सभी गरिमा । गर्व नहीं आता है वही क्षमा ।
जैसे ढोता है शरीर जो रोम । जानता न ढोता ॥ १९० ॥

पवित्रता क्षमा तेज धैर्य अद्रोह नम्रता ।
जिसके गुण ये आया दैवी संपत्ति लेकर ॥ ३ ॥

२३ दैवी–गुण, धैर्य–

तथा उभर आया इंद्रिय-वेग । या भड़क उठे हैं पुराने रोग ।
अथवा हुये नाता योग-वियोग । प्रियाप्रियोंके ॥ ९१ ॥

इन सबका आया बवंडर । या साथ मिलकर आया पूर ।
तब अगस्ति बनकर धीर । खडा होता है ॥ ९२ ॥

नभमें धूम्रका वलय । जोरसे उठा धनंजय ।
क्षणमें करता विलय । वायु जैसे ॥ ९३ ॥

वैसे अधिभूताधिदैव । अध्यात्मिकादि उपद्रव ।
होते हैं उनको पांडव । निगलता जो ॥ ९४ ॥

जब ईश्वरकी प्राप्तिमें । प्रवर्तता ज्ञान-योगमें ।
धीरजका न्यून उसमें । नहीं होता ॥ ९५ ॥

आता ऐसा चित्त-क्षोभका समय । सहके पराक्रम करता धैर्य ।
धृति कहते हैं जिसे धनंजय । वह है यही ॥ ९६ ॥

२४ दैवी–गुण, शौच=पवित्रता–

जैसे शुद्ध कनक-कलश । उसमें भरा गंगा पीयूष ।
जैसे है अंतर्बाह्य कलश । वैसे पावित्र्य ॥ ९७ ॥

शरीरसे निष्काम आचार । हृदयमें विवेक साकार ।
अंतरर्बाह्य बना है आकार । शुचित्वका जो ॥ ९८ ॥

२५ दैवी–गुण, अद्रोह–

हरते हरते पाप ताप । पोसते किनारेके पादप ।
समुद्र तक जाता है आप । गंगाका जैसे ॥ ९९ ॥

या विश्वका तम हरते । श्रियाका सदन खोलते ।
चला परिक्रमा करते । भास्कर जैसे ॥ २०० ॥

वैसे बद्धको मुक्त करते । डूबेहुओंको जो उभारते ।
कठिनाईको दूर करते । अंतरतमकी ॥ १ ॥

वैसे वह दिवस-राति । करते सबकी उन्नति ।
चलता आत्म-हित-रति । धनुर्धर ॥ २ ॥

केवल अपने हितार्थ । प्राणियोंका अहित पार्थ ।
मनमें भी लाना किंचित । नहीं कभी ॥ ३ ॥

अद्रोहत्वकी ऐसी गोष्टी । कही मैंने तुझे किरीटी ।
मानो वह प्रत्यक्ष दृष्टी । देखती है ॥ ४ ॥

२६ दैवी-गुण, अमानित्व—

गंगा जैसे चढके शंभुके माथ । आप हुई अपनेमें संकुचित ।
वैसे सन्मानसे भी करें प्रतीत । लज्जा आप ॥ ५ ॥

वह अमानित्व कहलाता । तुझसे पहले जो कहा था ।
वही वही कहना क्या पार्थ । बार बार ॥ ६ ॥

दैवी-गुणोंकी महानता—

ऐसे ये गुण है जो छब्बीस । ब्रह्मैश्वर्य करता निवास ।
मोक्ष-चक्रवर्तिका है खास । अग्रहार ॥ ७ ॥

ऐसी नाना संपदा दैवी । गुण-तीर्थकी नित्य-नवी ।
निरिच्छ सगरोंकी दैवी- । गंगा बह आयी ॥ ८ ॥

या गुण-पुष्पकी वरमाला । लेकर आयी है मुक्ता बाला ।
निरिच्छ विरक्तका है गला । खोजती है ॥ ९ ॥

अथवा छब्बीस गुणोंकी ज्योती । उजलाकर ले यह आरती ।
उतारने आयी गीता खोजती । पति आत्माको ॥ २१० ॥

उगलते है जो निर्मल । इन गुणोंके मुक्ता-फल ।
दैवी श्रियाके शुक्तादल । गीतार्णवमें जो ॥ ११ ॥

कितना करूं इसका वर्णन । कहे हैं स्पष्ट होंगे ऐसे गुण ।
इन गुण-राशिका है दर्शन । दैवी श्रियाका रूप ॥ १२ ॥

आसुरी-गुणोंकी ओर संकेत—

दुःख क्लेशकी जो पुष्ट लता । दोष-कांटोंसे भरी है पार्था ।
वह अपनी व्याख्यामें लाता । आसुरी जो ॥ १३ ॥

त्याज्यको तजनेके हित । जान लेता है उपयुक्त ।
इसीलिये दे तू स्व-चित्त । सुननेमें यह ॥ १४ ॥

यह है नरक-व्यथा घोर । लाये दोष अति भयंकर ।
एकत्र किये हैं ये असुर- । संपदा रूप ॥ १५ ॥

नाना विष वर्गका कर गठन । बनाया जाता कालकूट महान ।
वैसे सभी दोषोंका कर मिलन । बनी आसुरी संपदा ॥ १६ ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानंचाभिमानस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

१ आसुरी-गुण, दंभ—

आसुरी दोषमें ख्यात । गर्जके जिसका पार्थ ।
नाम चलता सतत । दंभ ऐसा ॥ १७ ॥

अपनी जननी है पावन । रहती जो तीर्थके समान ।
किंतु जनमें करना नग्न । पतन कारण होता ॥ १८ ॥

या विद्या गुरूपदेशमें प्राप्त । चौरास्ते पर किया प्रदर्शित ।
इष्टदा भी होती अनिष्ट हेत । वैसे ही जो ॥ १९ ॥

डूबनेको महा-पूरमें । पहुंचाती पैल तीरमें ।
वह नाव बांधे शिरमें । डुबो देती है ॥ २२० ॥

जीवनका जो साधन । अधिक खाया तो अन्न ।
वही जीवनीय अन्न । होता है विष ॥ २१ ॥

वैसे ही दृश्य-अदृश्यका मित्र । तारक होता है धर्म सर्वत्र ।
प्रसिद्ध करनेसे जो सर्वत्र । शत्रु बन जाता ॥ २२ ॥

अहंता दंभ अज्ञान क्रोध दर्प कठोरता ।
आया जो गुण ये लेके आसुरी संपदा वह ॥ ४ ॥

तभी वाचाके चौरास्ते पर । फलाया तो धर्मका विस्तार ।
कहलाता दंभ धनुर्धर । अधर्म-रूप ॥ २३ ॥

२ आसुरी-गुण, दर्प—

किंतु मूर्खकी जिव्हा पर । फैलाया तो धर्मका विस्तार ।
कहलाता दंभ धनुर्धर । वह ब्रह्म सभाको ॥ २४ ॥

या घोड़ा जो भादुरी लोगोंका । ओछा मानता गज इंद्रका ।
गिरगिट जो कांटों परका । स्वर्ग भी बौना ॥ २५ ॥

या तृणका जो इंधन । भडकता है गगन ।
डबरे बसा मीन । माने सिंधु तुच्छ ॥ २६ ॥

फूलता है वह स्त्रीधन । विद्या स्तुति पाकर मान ।
एक दिनका ही परान्न । फुलाता अल्पको जैसे ॥ २७ ॥

जैसे मेघ छाया देख तोड़ता । दुर्दैवी घरका आसरा पार्था ।
मृग-जल देखकर तोड़ता । पानीका ड़बरा ॥ २८ ॥

और कहूं मैं कितना । संपत्ति-योगसे नाना ।
मदमें उन्मत्त होना । कहलाता दर्प ॥ २९ ॥

३ आसुरी-गुण, अभिमान—

तथा वेदमें जिसका विश्वास । विश्वका पूजनीय ईश ।
विश्वमें एक ही महा तेजस । सूर्य मात्र ॥ २३० ॥

विश्वमें जो है स्पर्धास्पद । एक ही सार्वभौम पद ।
न मरना है निर्विवाद । विश्वको भाता ॥ ३१ ॥

इसीलिये यदि उत्साहसे । इसका वर्णन करनेसे
फूलता वह अभिमानसे । तथा रखता डाह ॥ ३२ ॥

कहता निकालूंगा ईशको । गरल पिलाऊंगा वेदको ।
खपाता है अपने बलको । स्व-गौरवार्थ ॥ ३३ ॥

पतंगको दीप नहीं भाता । जुगनूको सूर्य क्लेश देता ।
तथा पंखेरु द्वेष करता । महासागरका ॥ ३४ ॥

वैसा अहं नामका मोह । ईश्वरसे करता द्रोह ।
वेदसे माने ऐसा डाह । मानो है सौत ॥ ३५ ॥

स्वयं मान्यताका दुष्ट भाव । अभिमानसे बनता देव ।
रौरवका पथ है पांडव । जो चलता आया ॥ ३६ ॥

४ आसुरी–गुण, क्रोध—

वैसे ही दूसरोंका सुख । जलता है सदा देख ।
चढे जैसे क्रोधका विष । मनोदशा यह ॥ ३७ ॥

तपा तेल जल पा कर शीतल । भड़क उठता जैसे महाज्वाल ।
या चंद्रमाको देखकर उदर-ज्वाल । उठती सियारके ॥ ३८ ॥

विश्वका जीवन जिससे उजला । वह सूर्योदय देख विश्व खिलता ।
किंतु है उलूकका नयन फूटता । पापीके जैसे ॥ ३९ ॥

प्रातःकाल सुख है विश्वका । किंतु मृत्युसा दुःख है चोरका ।
कालकूट बनता दूधका । सांपमें जैसे ॥ ४० ॥

अगाध सागर जल । पीकर वड़वानल ।
भडकता वन ज्वाल । न पाता शांति ॥ ४१ ॥

वैसे विद्या विनोद विभव । देखकर अन्योंका सुदैव ।
भडकता जाता शेष भाव । वह है क्रोध ॥ ४२ ॥

५ आसुरी–भाव, कठोरता—

तथा मन जिसका व्याल-विवर । आंखें मानो विष-बाणके अंकुर ।
बोलना जैसे बरसते अंगार । जलते हुए ॥ ४३ ॥

ऐसे जिसके क्रिया जात । तीखे जैसे आरेके दांत ।
सबाह्य खरोंचता नित । पारुष सबको ॥ ४४ ॥

मानवोंमें उसको अधम जान । कठोरताका ही जो अवतरण ।
सुन तू अब कहता हूं लक्षण । अज्ञानका मैं ॥ ४५ ॥

६ आसुरी-भाव, अज्ञान—

शीत उष्णादि स्पर्श जैसे । न जानता पाषाण वैसे ।
या रात्र और दिवससे । अनभिज्ञ जात्यंध ॥ ४६ ॥

उठता अग्नि जैसे खाता । खाद्याखाद्य नहीं जानता ।
या पारस नहीं जानता । लोह या सोना ॥ ४७ ॥

या नाना रसोंमें जैसे । डूबती कडची जैसे ।
किंतु रसास्वाद ऐसे । जानती नहीं ॥ ४८ ॥

अथवा जैसे वायु होता । मार्गामार्ग नहीं जानता ।
वैसे कृत्याकृत्यमें होता । वह अंधा ॥ ४९ ॥

जैसे यह स्वच्छ है मैला । यह नहीं जानता बाल ।
जिसे देखता वह केवल । डालता मुखमें ॥ २५० ॥

खिचडी कर वैसे पाप-पुण्यकी । खाते हुए नहीं बुद्धिमें उसकी ।
भला बुरा यह नहीं जाननेकी । ऐसी जो दशा ॥ ५१ ॥

उसका नाम है अज्ञान । इस बोलसे नहीं भिन्न ।
ऐसे छ दोषोंका लक्षण । कहे सब ॥ ५२ ॥

आसुरी संपदा जीवन विनाशक होती है—

ऐसे छ दोषोंसे भरकर पूर्ण । आसुरी संपदा हुई बलवान ।
छोटीसी शुभांगीमें जैसे अर्जुन । हो विषय अतिशय ॥ ५३ ॥

अथवा तीन अग्निकी पंक्ती । देखनेमें छोटीसी लगती ।
किंतु है विश्वकी प्राणाहुती । ओछी उसको ॥ ५४ ॥

या विधाताको जाकर शरण । त्रिदोषसे न चुकता मरण ।
उन तीनोंके ये दूने हैं जान । छह दोष ॥ ५५ ॥

इन छह दोषोंसे संपूर्ण । बनाया है आसुरी भवन ।
इसलिये अल्प न अर्जुन । आसुरी संपदा ॥ ५६ ॥

या क्रूर ग्रहोंका मिलन । होता एक राशिमें जान ।
या निंदकके पास पूर्ण । आते सब पाप ॥ ५७ ॥

या मरनेवालेके अंग । ग्रासते जैसे सभी रोग ।
या कुसमयमें दुर्योग । होते एकत्र ॥ ५८ ॥

या जीवन समाप्तिकी आती वेला । बकरीको डसता बिच्छू काला ।
वैसे ये छ ही दोष जिसे सकल । घेरते हैं ॥ ५९ ॥

विश्वासु जैसे चोरसे पकड़वाता । या थका हुवा महापूरमें फंसता ।
वैसे ही इन दोषोंसे अनिष्ट होता । मनुष्यका सदैव ॥ २६० ॥

यदि किसी मोक्ष-पथिक पर । इनका पडा इक छींटा भर ।
डुबाएगा उसे भव-सागर । न उठेगा वह ॥ ६१ ॥

उतरके अधम योनिकी । सीढी परसे जो अंतिमकी ।
स्थावर तक गति उसकी । पहुंचेगी ही ॥ ६२ ॥

छ दोष ये जिनमें । पाये जाते उनमें ।
बढ़ती संपदामें । आसुरी जो ॥ ६३ ॥

ऐसे हैं ये भिन्न । संपदा तू जान ।
कही स-लक्षण । तुझसे अब ॥ ६४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

तू दैवी संपत्तिका स्वामी है—

इन दोनोंमें पहली । दैवी संपदा जो भली ।
मोक्ष-सूर्यसे उजली । प्रभात जान ॥ ६५ ॥

मुक्तता करती दैवी आसुरी बांधती जहां ।
पायी है संपदा तूने दैवी न कर सोच तू ॥ ५ ॥

तथा ये जो दूसरी । संपदा है आसुरी ।
मोह-लोहकी खरी । सांखली है ॥ ६६ ॥

यह सुन कर तू अर्जुन । भय खायेगा अपने मन ।
किंतु कभी रातसे क्या दिन । भय खाता है ॥ ६७ ॥

जो है यह आसुरी संपत्ति । उसीका बंधन हो सकती ।
आश्रित होती जिनकी मति । इन दोषोंकी ॥ ६८ ॥

किंतु यहां तू अर्जुन । उपरोक्त दैवी गुण ।
लेकर आया निधान । जन्मसे ही ॥ ६९ ॥

इसीलिये तू यहांका । स्वामी दैवी-संपदाका ।
बन, पायेगा मोक्षका । सुख शाश्वत ॥ ७० ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

अनादिसे ये दो मार्ग चले आये हैं—

ऐसे देव और असुर । संपदाके स्वामी जो नर ।
अनादिसे हैं चलकर । आये दो मार्ग ॥ ७१ ॥

जैसे है रातका अवसर । करते निशाचर व्यापार ।
तथा दिनमें सुव्यवहार । मनुष्यादिक ॥ ७२ ॥

वैसे ही अपना आचरण । करती है दोनों सृष्टि जान ।
दैवी तथा आसुरी अर्जुन । जन्म लेकर ॥ ७३ ॥

वैसे भी दैवी सविस्तृत । ज्ञान कथनमें पार्थ ।
कहा है मैंने यथावत । पीछे ही सब ॥ ७४ ॥

जीवोंकी सृष्टि दो भांति दैवी तथैव आसुरी ।
सविस्तार कही दैवी आसुरी कहता सुन ॥ ६ ॥

आसुरी संपदाका वर्णन—

अब जो मैं आसुरी सृष्टि । तथा वहांकी सभी गोष्टी ।
कहता हूं दे पूर्ण दृष्टि । अवधानकी ॥ ७५ ॥

जैसे है बिन वाद्यका नाद । नहीं आता कोई भी साद ।
या बिन पुष्पका सुगंध । नहीं आता वैसे ॥ ७६ ॥

वैसे ही प्रकृति यह असुर । अकेली नहीं होती है गोचर ।
जब मिलता एकाधा शरीर । दीखती वह ॥ ७७ ॥

करनेसे जैसे घर्षण । देती लकडी अग्नि कण ।
प्राणि देहसे निर्माण । होता है इसका ॥ ७८ ॥

बढता है जैसे ऊस । वैसे ही बढता है रस ।
देहाकार होता वैसा । प्राणियोंका ॥ ७९ ॥

अब जैसे जिनका तन । रूप लेता जाता अर्जुन ।
होती है दोष वृद्धि जान । आसुरी जो ॥ २८० ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

कृत्याकृत्यका अज्ञान—

तथा पुण्यके लिये हो प्रवृत्ति । या पापके विषयमें निवृत्ति ।
जाननेमें इसको है विरक्ति । होती मनमें ॥ ८१ ॥

अजी ! आने जाने में रखना भी द्वार । घर बांधनेके नशेमें भूल कर ।
मर जाता है घरमें ही फंस कर । कोशकीट जैसे ॥ ८२ ॥

दी हुई पूंजी आयेगी या नहीं । यह भी जो कभी देखता नहीं ।
और देता है चोरको वैसी ही । पूंजी मूर्ख ॥ ८३ ॥

तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति । नहीं जानती आसुरी-वृत्ति ।
स्वप्नमें भी शुचिताकी रीति । जानते नहीं ॥ ८४ ॥

कृत्य अकृत्य क्या कैसे न जाने आसुरी जन ।
न स्वच्छता न आचार जानते वे न सत्य भी ॥ ७ ॥